संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्त एवं क्रियान्वयन में विधायिका की भूमिका

नमूना • SAMPLE

SAMPLE

संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्त एवं क्रियान्वयन में विधायिका की भूमिका

डॉ. संज्ञा राय मीना

अखण्ड पब्लिशिंग हाऊस
दिल्ली (भारत)

नमूना • SAMPLE

द्वारा प्रकाशित

अखण्ड पब्लिशिंग हाऊस

Publisher, Distributor, Exporter having an Online Bookstore

एल-9ए, प्रथम तल, गली न. 42,
सादतपुर एक्सटेंसन, दिल्ली-110094 (भारत)
Phone : 9968628081, 9555149955, 9013387535
E-mail : akhandpublishinghouse@gmail.com
akhandpublishing@yahoo.com
Website : www.akhandbooks.com

संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्त एवं क्रियान्वयन में विधायिका की भूमिका

संस्करण : 2020
© लेखक
ISBN: 978-81-945367-3-4

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी हिस्से को प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इलेक्ट्रॉनिक या किसी अन्य माध्यम द्वारा पुनः प्राप्ति समेत किसी भी रूप में प्रतिलिपिकृत, अनुवादित, संग्रहीत नहीं किया जा सकता है और न ही किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम द्वारा इसे प्रसारित किया जा सकता है।

इस पुस्तक में लेखक द्वारा व्यक्त विचार उनके व्यक्तिगत हैं जिसका प्रकाशक से कोई संबंध नहीं है।

भारत में प्रकाशित

झपसू यादव द्वारा 'अखण्ड पब्लिशिंग हाउस' के लिए प्रकाशित। वी.एम. ग्राफिक, दिल्ली द्वारा कवर डिजाइन व शब्द संयोजन तथा आरना इंटरप्राइजेज, दिल्ली से मुद्रित।

नमूना SAMPLE

आमुख

मूल अधिकारो व नीति-निर्देशक तत्त्वों को संयुक्तः भारतीय संवैधानिक व्यवस्था का मर्म माना जा सकता है। भारत में अब तक हुए यह संवैधानिक विकास के मूल अधिकारों व नीति निर्देशक तत्त्वों की अन्योन्याश्रितता का भली-भाँति प्रतिष्ठित किया है। यह कहा जा सकता हैं कि ये दोनों भारतीय संविधान में व्यक्त दार्शनिक मंतव्यों की प्राप्ति के परस्पर संपूरक उपकरण हैं। मूल अधिकारों के सामान्यतः निबंधनात्मक स्वर तथा निर्देशक तत्वों के विधेयात्मक आग्रह के कारण इन दोनों में विद्यमान प्रकृतिगत भिन्नता पर यह टिप्पणी कि जा सकती है। कि जहाँ मूल अधिकारों की सीमा रेखा समाप्त होती है, वहीं से नीति निर्देशक तत्वों का क्षेत्र प्रारम्भ होता हैं।

भारतीय संविधान में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय की संस्थापना का संकल्प नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन के लिए उपयुक्त विधायन की अपेक्षा विधायिका से की गर्द है।

पिछले चार दशको में राजस्थान राज्य में विधान सभा द्वारा नीति निर्देशक तत्त्वो के क्रियान्वयन के लिए विचार विमर्श प्रश्नों प्रस्तावो संकल्पों एवं विधायन के द्वारा जो कार्य किया गया है उसका निष्पक्ष मूल्यांकन ही इस अध्ययन का विषय सूत्र है।

प्रस्तुत अध्ययन में नीति निर्देशक तत्त्वों से संबद्ध सैद्धांतिक संवैधानिक व दार्शनिक पक्षों के निहितार्थों का विकास किया गया है, तथा इन तत्वों के क्रियान्वयन में राजस्थान विधान सभा की भूमिका समीक्षा की गयी है। अध्ययन में नीति निर्देशक तत्त्वों के प्रकाश में, विधान द्वारा जनकल्याण तथा सामाजिक, आर्थिक न्याय की प्रयासों का आकलन करने का प्रयत्न किया गया है।

SAMPLE

उन सभी लोगों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मेरा कर्त्तव्य है, जिन्होंने इस अध्ययन के विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार से सहायता सहयोग व प्रोत्साहन दिया है।

मेरे निर्देशक डॉ. मधुकर श्याम चतुर्वेदी से मुझे कार्य हेतु निरंतर प्रेरणा, प्रोत्साहन, सहयोग व निर्देशन प्राप्त हुआ है। उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना मेरे लिए सुखद अनुभूति है।

अपने आत्मीयों, सहयोगियों व शुभचिंतको विशेषतः डॉ. श्रीमती इनाक्षी चतुर्वेदी व संगीता माथुर से मुझे अपने शोध कार्य को इस रूप तक पहुँचाने में बहुविध सहायता व सहयोग प्राप्त हुआ है। इनके प्रति में हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

मेरे परिवार के सदस्यों ने इस अध्ययन हेतु मुझे निरंतर प्रेरित व प्रोत्साहित किया है। कार्य के पूर्ण होने में उनके सहयोग व प्रेरणा का अदृश्य अपूर्व योगदान रहा है। उनके प्रति मेरी कृतज्ञता की शाब्दिक अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

डॉ. संज्ञा राय मीना

SAMPLE

विषय-सूची

	आमुख	*v*
1.	परिचयात्मक	1
2.	संविधान में राज्य-नीति के निर्देशक तत्त्वः प्रवृत्ति व पृष्ठभूमि	7
3.	नीति-निर्देशक तत्त्व और मूल अधिकारों की पारस्परिकताः संवैधानिक विकास की प्रवृत्तियों के संबंध में एक मूल्यांकन	45
4.	न्यायिक व विधिक सुधार	76
5.	सामाजिक एवं आर्थिक न्याय जनकल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा	105
6.	लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण	155
7.	सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के कतिपय विशिष्ट संदर्भों में राज्य के दायित्व	173
8.	उपसंहार	200
	संदर्भ ग्रंथों की सूची	*210*

SAMPLE

SAMPLE

1

परिचयात्मक

भारत के संविधान के भाग-चार में नीति निर्देशक तत्त्वों की उद्घोषणा की गई है। संविधान में भाग-तीन में उद्घोषित मौलिक अधिकारों से अपने संबंध, निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वन में न्यायपालिका की भूमिका आदि के संदर्भ में नीति निर्देशक तत्त्व, संविधान के प्रवर्तन के पश्चात् निरंतर संविधान के अध्ययनकर्ताओं के आकर्षण का विषय रहे हैं। भाग-चार में वर्णित निर्देशक तत्त्वों की विषयवस्तु के विवेचन से यह स्पष्टत परिलक्षित होता है कि ये तत्त्व भारत के संविधान में राज्य के लोक कल्याणकारी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बने हैं।

यह भी स्पष्ट है कि निर्देशन तत्वों के माध्यम से राज्य पर जिन व्यापक दायित्वों का आरोपण किया गया है, उनकी परिधि सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी प्रकार के निहितार्थ समाहित करती है। स्वाभाविक रूप से नीति निर्देशक तत्त्व अपने क्रियान्वयन के क्रम में, व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की सम्भावनाओं में वृद्धि करते हैं। इस दृष्टि से संविधान के भाग-तीन से इनकों टकराव की सम्भावनाओं में वृद्धि करते हैं। इस दृष्टि से संविधान के भाग-तीन से इनका द्वंद्व प्रथम दृष्ट्या स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि मूल अधिकारों के माध्यम से, व्यक्ति के जीवन के पक्ष मे उद्घोषित राज्य की मर्यादाओं के माध्यम से व्यक्ति के जीवन के कतिपय संदर्भों में राज्य के हस्तक्षेप के प्रयोजन, परिधि प्रक्रियाओं को विनियमित किया गया है। नीति निर्देशक तत्त्वों और मूल अधिकारों के मध्य, प्रथम दृष्ट्यता प्रतीत होने वाला

SAMPLE

द्वंद्व भारत में संवैधानिक विकास की दिशा निर्धारित करने में निर्णयक महत्त्व काम सिद्ध हुआ है।

संवैधानिक विकास के प्रारंम्भिक चरण में न्यायपालिका ने इन दोनों के मध्य कथित द्वंद्व का पर्याप्त संज्ञान किया। निर्देशक तत्त्वों और मूल अधिकारों के मध्य कथित द्वंद्व का न्यायिक संज्ञान तथा इस क्रम में न्यायपालिका द्वारा मूल अधिकारों को दी गई सापेक्ष वरीयता संविधानिक विकास के इस प्रारम्भिक चरण में न्यायपालिका और व्यवस्थापिका के मध्य कटुतापूर्ण वाद-विवाद, संघर्षों और आरोपों-प्रत्यारोपों की एक लंबी श्रृंखला के लिए उत्तरदायी रही है। संसद और देश की उच्चतम न्यायपालिका के मध्य नीति निर्देशक तत्त्वों के संदर्भ में हुए वाद-विवाद ने अनेक संविधानिक संस्थागत, विचारधारागत और राजनीतिक आयाम उपस्थित किये हैं। प्रस्तुत प्रसंग में न्यायपालिका और संसद के मध्य हुए संघर्ष के इतिवृत का विवेचन प्रासंगिक नहीं है तथापि यह टिप्पणी है कि संविधान के प्रथम संशोधन से लेकर 44वें संशोधन तक संविधान में हुए विभिन्न संशोधनों तथा ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य 1950 तक हुए न्यायिक निर्णयों के माध्यम से हुए संविधानिक विकास की दिशा और नीति निर्देशक तत्त्वों एवं मूल अधिकारों की पारस्परिकता से ही प्रभावित व निर्धारित हुई है।

मूल अधिकारों और निर्देशक तत्त्वों की प्रकृतिगत भिन्नता प्रारम्भ से ही प्रकट रही है। इस भिन्नता का संविधान सभा के प्रबंध सदस्यों ने भी संज्ञान किया था। अनेक शंकाओं की अभिव्यक्ति उनका निराकरण तथा गंभीर विचार-विमर्श के पश्चात् अंततः संविधान के भाग-चार में उद्घोषित संकल्पों को संविधान का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हुए भी उन्हें न्यायपालिका के माध्यम से प्रवर्तनीय बनाये जाने तथा इनका क्रियान्वयन पूर्णतः कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के क्षेत्राधिकार के अधीन रखने का विनिश्चय किया गया था। नीति-निर्देशक तत्त्वों और मूल अधिकारों के मध्य प्राकृतिक भिन्नता का सर्वाधिक प्रखर पक्ष यह है कि निर्देशक तत्त्वों के माध्यम से राज्य पर सकारात्मक दायित्त्व आरोपित किये गये, जो एक सर्वाग विकसित सामाजिक व्यवस्था के निर्माण तथा सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक न्याय के प्रति संविधान के संकल्पों को व्यक्त करते हैं। मूल अधिकार राज्य की शक्ति पर नकारात्मक निर्बंधन आरोपित कर व्यक्ति के सर्वागीण विकास की दिशाओं

और व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करते हैं।

यह स्पष्ट है कि नीति निर्देशक तत्त्वों और मूल अधिकारों के संदर्भ में राज्य का दायित्व भिन्न प्रकृति का है। निर्देशक तत्त्व राज्य से नीति-निर्णयों संकल्पों और साधनों के विनियोग की अपेक्षा करते हैं। इसके विपरीत मूल अधिकार राज्य से उसकी शक्ति के प्रयोग में संयम और मर्यादा की अपेक्षा करते हैं। स्वाभविक है कि राज्य की शक्ति के सम्व्यवहार पर संविधान द्वारा आरोपित मर्यादाओं का न्यायिक हस्तक्षेप के द्वारा प्रवर्तन संभव भी है और समीचन भी है। किंतु यह भी स्वाभिक है। कि न्याययिक निर्देश व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को सकारात्मक दायित्वों की पूर्ति के लिये तथा इस क्रम में आवश्यक साधनों के सृजन और विनियोग के लिये विवश नहीं कर सकते। इस संदर्भ में उद्घोषणाओं से उत्पन्न विवशता न केवल कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के समक्ष धर्म संकट उपस्थित कर सकती है, अपितु अव्यवहार्य होने पर संविधानिक उद्घोषणाओं को असंगत बना सकती है और समग्र राज्य-यष्टि के समक्ष अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित कर सकती है।

संवैधानिक विकास की एक लंबी यात्रा के पश्चात् अब अन्ततः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि मूल अधिकार और नीति निर्देशक तत्त्व परस्पर विद्वेषी नहीं अपितु अनिवार्यतयासम्पूरक हैं। ये दोनों समवेत रूप में, व्यक्ति की गरिमा तथा एक गरिमामय सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के प्रति संतुलित आग्रह के दो अविवार्य उपादान हैं। अब न्यायपालिका द्वारा यह स्वीकार किया जाने लगा है कि मौलिक अधिकार और निर्देशक तत्त्वों के मध्य दृष्ट्यिमान भेद तात्विक नहीं, अपितु आभासी हैं। न्यायपालिका ने न केवल मूल अधिकारों और नीति निर्देशक तत्त्वों की समवर्ती अभिभाविता को स्वीकार किया है अपितु यह भी उद्घोषित किया है कि न्यायालय निर्देशक तत्त्वों का भी न्यायियक संज्ञान कर सकते हैं। निर्देशक तत्त्वों का न्यायिक संज्ञान अब तक अनेक न्यायिक निर्णयों में न्यायपालिका के इस आग्रह के रूप में परिलक्षित हुआ है कि अनेक मूल अधिकारों की व्याख्या भी वस्तुतः नीति निर्देशक तत्त्वों के आलोक में ही की जानी उचित है।

संविधान में यह स्पष्ट घोषण की गई है कि नीति निर्देशक तत्त्व देश के शासन के लिए मूलभूत हैं। राज्य का यह दायित्त्व माना गया है कि राज्य अपनी

विधायी शक्ति का प्रयोग कर इन तत्त्वों को क्रियान्वित करे। अतः प्रकटतः न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होने के पश्चात् भी यह किसी भी प्रकार कल्पना नहीं की जा सकती कि राज्य इनके क्रियान्वयन के दायित्वों से मुक्त हो सकते हैं।

निर्देशक तत्व क्योंकि सकारात्मक दायित्व हैं अतः स्वाभाविक रूप से इनकी क्रियान्विति के लिये व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की सम्भावना सृजित होती है। इस सम्भावना से किसी मूल अधिकार के टकराव का संदर्भ उपस्थित होना भी स्वाभाविक है। संविधान के प्रवर्तन के पश्चात् नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन के प्रति संसद के आग्रह के कारण ऐसे ही अनेक संदर्भ उपस्थित हुए हैं जब से निर्देशक तत्त्वों की क्रियान्वित के प्रति संसद के आग्रह से मूल अधिकारों का टकराव हुआ है। इन टकरावों का शमन करने के लिये संसद को 25वां संविधान संशोधन पारित करके यह व्यवस्था करनी पड़ी की अनुच्छेद 39 के खण्ड ख और ग में उल्लेखित निर्देशक तत्त्वों के प्रवर्तन के लिये कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 में उद्घोषित मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है। 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से मूल अधिकारों की तुलना में निर्देशक तत्त्वों की वरीयता के संसद के आग्रह को अनुच्छेद 39 के खण्ड ख और ग तक परिसीमित नहीं रखा गया है। अपितु यह व्यवस्था कर दी गई कि संविधान के भाग-चार के किसी भी प्रावधान को प्रवर्तित करने के लिये संसद द्वारा किया गया विधायी उपक्रम भाग-तीन की घोषणाओं से बाधित नहीं होगा। संविधान के 24वें, 25वें और 52वें संशोधनों के द्वारा निर्देशक तत्त्वो की मूल अधिकारों के प्रति वरीयता प्रतिपादित करने के संसद के आग्रह तथा इस आग्रह पर न्यायियक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुए सांविधानिक विकास की प्रवृत्तियों और परिणामों का विवेचन प्रस्तुत अध्यायों में प्रासंगिक नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में उपर्युक्त विवरण यह इंगित करने के लिये अभिप्रेत है कि संघ की संसद ने प्रारम्भ से निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन के प्रति अपने आग्रह की अभिव्यक्ति की है तथा इस क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली विधिक संविधानिक व संस्थागत बाधाओं के निराकरण का प्रयास किया गया है।

मूल अधिकारों और निर्देशक तत्त्वों के मध्य संबंधों तथा मूल अधिकारों के सापेक्ष तत्त्वों की वरीयता आदि के संबंध में पर्याप्त अध्ययन हुआ है किंतु

निर्देशक तत्त्वों की क्रियान्वित के मूल्यांकन के उद्देश्य से प्रेरित अध्ययनों का अद्यावधि प्रायः अभाव रहा है। प्रस्तुत अध्ययन इन अभाव की पूर्ति की दिशा में एक विनम्र प्रयास है। नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन के अध्ययन का महत्त्व इस दृष्टि से स्वतः सिद्ध है कि अध्ययन का यह संदर्भ अब तक प्रायः उपेक्षित रहा है। प्रस्तुत अध्ययन में नीति निर्देशक तत्त्वों की प्रकृति मूल अधिकारों से उनके संबंध तथा इस संबंध में हुए संविधानिक विकास की पृष्ठभूमि का विवेचन कर नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन में राज्य विधानसभा की भूमिका का आकलन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 36 में भाग-चार के प्रयोजनों के लिये राज्य की उसी परिभाषा को स्वीकार किया गया है जो भाग-तीन में उद्घोषित है। भाग-तीन के अनुच्छेद के अनुच्छेद 12 में राज्य की परिभाषा में राज्यों के विधान-मण्डल को सम्मिलित किया गया है। निर्देशक तत्त्वों की क्रियान्वित के संबंध में, राज्य की भूमिका का प्रमुख संदर्भ विश्वायी है, क्योंकि संविधान ने उद्घोषित किया है। कि भाग-चार में अधिकथित तत्त्व शासन में मूलभूत होंगे और विधि बनाने में इन तत्त्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा। स्वभाविक रूप से नीति निर्देशक तत्त्वों की क्रियान्विति के प्रति राज्य का आग्रह शासकीय नीतियों और योजनाओं तथा व्यवस्थापिका के विधायी उपक्रमों, दोनों में परिलक्षित होना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन में नीति निर्देशक तत्त्वो की संविधानिक उद्घोषणा के, दार्शनिक व सैद्धांतिक निहितार्थ की पृष्ठभूमि में, राजस्थान विधानसभा द्वारा नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन में निभायी गई भूमिका के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। स्वाभाविक रूप से निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन के लिये सरकार द्वारा अभिकल्पित आर्थिक व सामाजिक योजनाओं अथवा स्वतंत्र रूप से तथा संघीय सरकार के सहयोग से क्रियान्वित किये गये कल्याण कार्यक्रमों का मूल्यांकन प्रस्तुत अध्ययन की परिधि में समाविष्ट नहीं है। नीति निर्देशक तत्त्वों की क्रियान्वित के लिये अभिकल्पित और क्रियान्वित शासकीय नीतियों और योजनाओं के मूल्यांकन का महत्त्व असंदिग्ध है, किंतु वे एक स्वतंत्र और पृथक् अध्ययन की ही विषयवस्तु ही पाने की सम्भावना व प्रासंगिकता अधिक नहीं है। स्वाभाविक रूप से यहाँ अध्ययन को राजस्थान राज्य विधानसभा में नीति निर्देशक तत्त्वों के निष्कर्षों के संबंध में हुए उपक्रम तक सीमित रखा गया है।

नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन के संदर्भ में विधानसभा की भूमिका शासकीय विधेयकों, सदन में प्रस्तुत प्रस्तावों, संकल्पों आदि के संदर्भ में परिलक्षित होती हैं। प्रस्तुत अध्ययन में विधानसभा हमें कार्यपालिका के सदस्यों तथा निजी सदस्यों को उपलब्ध उपर्युक्त उपकरणों के वास्तविक प्रयोग के आधार पर राजस्थान विधानसभा की नीति निर्देशक तत्त्वों के क्रियान्वयन में अब तक रही भूमिका के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के आयाम सैद्धांतिक तुलनात्मक व तथ्यों और प्रवृत्तियों के आंकलन की प्रवृत्तियों के हैं। अध्ययन के सैद्धांतिक पक्षों के निरूपण के लिये, संविधान के प्रावधानों, संविधान सभा में हुए वाद-विवाद न्यायिक निर्णयों आदि को आधार बनाया गया है। यथा-प्रसंग अधिकारी विद्वानों की टिप्पणियों का भी प्रयोग किया गया है। विधान सभा की भूमिका की आंकलन के लिये राजस्थान विधानसभा में हुए वाद-विवाद विधायन के प्रस्तावों ध्यानाकर्षण प्रस्तावों, संकल्प आदि को आधार बनाया गया है। अध्ययन विवेचनात्मक व विश्लेषणातम दोनों दृष्टिकोणों को समाविष्ट करता है। निष्कर्ष तथ्यात्मक विवरणों, न्यायिक उद्घोषणाओं तथा संविधानिक व विविध प्रावधानों के वस्तुनिष्ठ और पूर्वाग्रह मुक्त आंकलन पर आधारित है। जहाँ कहीं आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की गई हैं पूर्वाग्रह मुक्त और सदाशय हैं।

नमूना SAMPLE

2

संविधान में राज्य-नीति के निर्देशक तत्त्व : प्रवृत्ति व पृष्ठभूमि

राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत वस्तुतः राज्य को लोककल्याण के प्रति निरंतर समर्पित रखने का संस्थागत माध्यम है। विश्व के अनेक संविधान राज्य को ऐसे निर्देशों से आबद्ध करते हैं जो उसके सकारात्मक दायित्वों के अनिवार्य संदर्भों में अभिव्यक्त होते हैं। किंतु विश्व के सभी संविधानों में ऐसे निर्देशों को राज्य-नीति के निर्देशक तत्त्वों की संज्ञा नहीं दी गयी है। किंतु चाहे नामतः ऐसे संविधानों द्वारा राज्य पर आरोपित सकारात्मक दायित्व राज्यनीति के निर्देशक तत्त्व घोषित न किये गये हो तत्वतः व प्रकृतितः वे निर्देशक तत्त्वों के समतुल्य ही माने जा सकते हैं।

1. कतिपय प्रमुख संविधानों में राज्य-नीति निर्देशक सिद्धांतों का समावेश

आयरलैंड के संविधान में निर्देशक तत्त्वों का समावेश समाजनीति के निर्देशक सिद्धांत[1] के नाम से किया गया है। संविधान ने घोषित किया है कि समाजनीति के सिद्धांत आयरलैंड की संसद के लिए मार्गदर्शक के रूप में प्रस्थापित किये गये हैं संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि इन सिद्धांतों का क्रियान्वयन केवल संसद पर निर्भर है।[2] संविधान में उन निर्देशक सिद्धांतों की विषयवस्तु में लोगों के कल्याण की सुरक्षा व संरक्षण न्याय नागरिक की आवश्यकताओं की पूर्ति समुदाय के भौतिक संसाधनों के सामान्यहित से

SAMPLE

सुसंगत नियमन तथा शोषण की समाप्ति आदि को सम्मिलित किया गया है।[3]

यह स्पष्ट है कि आयरलैंड के संविधान ने निर्देशक तत्त्वों को संसद के स्वाविवेक के अधीन माना है तथा उनकी विषयवस्तु मैं प्रमुखत आर्थिक विषमता के निवारण को स्थान दिया। इन निर्देशक सिद्धांतों की विस्तृत विवेचन संविधान में उपलब्ध नहीं है।

बर्मा के संविधान 1947 में भी प्रस्तावना में ही कुछ ऐसे उद्देश्यों का संकेत दिया है। जिन्हें प्राप्त करना राज्य के लिए उपयुक्त माना गया है। संविधान ने सभी नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय परिस्थिति की समानता को संस्थापित करने का संकल्प व्यक्त किया।[4]

प्रस्तावना में राज्य के सकारात्मक दायित्त्वों के संदर्भ के अतिरिक्त संविधान के भाग 4 में राज्य नीति के निर्देशक तत्त्वों को घोषित किया गया है। इन निर्देशक तत्त्वों में नागरिकों के रोजगार की व्यवस्था, वृद्धावस्था व बीमारी की अवस्था में भरण-पोषण, नागरिकों को आराम करने व शिक्षा प्राप्ति के अवसर सुलभ कराने, कमजोर वर्गों की सामाजिक शोषण और अन्याय से मुक्ति नागरिकों के उच्च जीवन स्तर की व्यवस्था, लोक स्वास्थ्य की व्यवस्था, निजी आर्थिक संगठनों की सामाजिक लाभ की ओर उत्प्रेरित करने तथा समस्त भौतिक संसाधनों का सामाजिक हित में समुचित विदोहन करने के संबंध में राज्य के दायित्व की उद्घोषणा की गयी[5] बर्मा के संविधान ने राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों को न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं बनाया।[6]

ब्राजील के संविधान 1948 में भाग पांच के अंतर्गत आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था के संदर्भों का वर्णन है। संविधान में घोषणा की गयी है कि राज्य द्वारा आर्थिक व्यवस्था का न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप संचालन किया जाएगा।[7]

संविधान ने लोकहित की दृष्टि से निजी आर्थिक हितों में राज्य के हस्तक्षेप की व्यवस्था की है।[8]

इस संबंध में विशिष्ट तथ्य यह है कि ब्राजील संविधान के उक्त प्रावधान राज्य पर बाध्यकारी बनाये गये हैं। किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि ब्राजील संविधान द्वारा राज्य पर आरोपित दायित्व सारतः राज्य की विनियमनकारी शक्ति के समुदाय सापेक्ष संव्यवहार की अपेक्षा करते हैं। राज्य द्वारा साधनों के विनियोग की अपेक्षा नहीं करते।